इकाई 1 समकालीन दलित कविता का विकास

bdkbZ dh : ijs[kk

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 समकालीन दलित कविता का विकास

1.3 दलित साहित्य आंदोलन की पृष्ठभूमि परंपरा और स्वरूप

1.4 दलित साहित्य आंदोलन में 'दलित पैंथर की भूमिका'

1.5 वर्ण-जाति-दास्य प्रथा के विरोध का इतिहास

1.6 सामाजिक संरचना में दलित कौन

1.7 सारांश

1.0 उद्देश्य

'हिंदी दलित साहित्य परंपरा' के खंड-1 की पहली इकाई 'हिंदी दलित कविता का विकास' के माध्यम से आप हिंदी दलित कवियों और उनकी कविता के रचनात्मक तेवर की विकासशील स्थिति को समझ सकेंगे। वर्ण और जाति के कारण घृणा और अपमान का जो दंश दलितों को कदम-कदम पर झेलना पड़ता है वह यातना आर्थिक वि-मता से कहीं ज्यादा भयावह और त्रासद है। इन स्थितियों से मुक्ति की आकांक्षा दलित कविता के विद्रोही स्वर में आपको दिखाई देगी। आइए, अब इस इकाई का सम्यक और विवेकपूर्ण अध्ययन करें। इसके अध्ययन-मनन के बाद आपः

- दलित कविता के मर्म और चेतना के विकास को जान सकेंगे;
- दलित कविता में व्यक्त सामाजिक यथार्थ से परिचित हो सकेंगे;
- दलित समाज की आशाएं-आकांक्षाएं और संघर्ा को समझ सकेंगे;
- कवि की वैचारिक प्रतिबद्धता में परिवर्तनकामी स्वर को सुन सकेंगे;
- कवि की समतावादी दृ-टि के अंतर्गत मुक्ति की आकांक्षा को परख सकेंगे;
- कविता के विद्रोही स्वर में निहित मानवतावादी दृ-टि से परिचित हो सकेंगे;
- दलित कविता के सौंदर्यशास्त्रीय पहलुओं से रू-ब-रू हो सकेंगे;
- कवि और कविता की दृ-टि और सरोकारों की व्यापकता से भली-भांति अवगत हो सकेंगे;
- दलित जीवन के व्यापक पहलुओं की संवेदना से जुड़ सकेंगे; और
- हिंदी साहित्य के बरक्स दलित कवि की संवेदना की निर्मिति के भाव को परख सकेंगे।

अब यह पहली इकाई आपके समक्ष है। आइए इसका गम्भीरतापूर्वक सविस्तार अध्ययन करें।

1.1 प्रस्तावना

दलित साहित्य और उसका रचनाकार आमूल चूल सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रतिबद्ध है। वह शिक्षा, संघर्ा और संगठन को आधार बनाकर विकसित हुआ है। समता, स्वतंत्रता, बंधुता और न्याय पर आधारित समाज की निर्मिति के लिए दलित साहित्य अग्रसर है। दलित साहित्य उन मूल्यों पर चोट करता है जो व्यक्ति एवं समुदाय के संघर्ा की राह में बाधा उपस्थित करते हैं। दलित रचनाकार अपनी सार्थक अभिव्यक्ति के माध्यम से परिवर्तनकामी चेतना विकसित करता है और समतामूलक समाज की संरचना के लिए प्रयत्नशील रहता है। समाज में व्याप्त असमानता, अन्याय, शो-ाण, मानवीय पराधीनता और अमानवीय व्यवहार को समाप्त करने के उद्देश्य से दलित कवि सर्जना करता है, वह दुःख-दर्द के प्रामाणिक अनुभव को कविता में ढालता है। साथ ही वह अपने अनुभव को एक दृ-टि देने का प्रयास भी करता है। सामाजिक सांस्कृतिक आंदोलनों की वैचारिकता कविता को पैना बनाती है। डॉ. आंबेडकर की जीवन दृ-टि और उनका समूचा संघर्ा दलित साहित्य के केन्द्र में है। आत्म-सम्मान और अस्मिता संघर्ा का दीप जलाकर आमूल परिवर्तन के लिए की गई पहल को दलित लेखन अपनी सर्जना का आधार मानता है।

दलित साहित्य में वेदना का प्राथमिक रूपांतरण आत्मकथन तथा कविता में होता है। थोपी गई हीनता ग्रंथियों को तोड़ने का सार्थक प्रयास दलित आत्मकथनों ने किया है। ये आत्मकथाएं कम आत्मकथन ज्यादा हैं इसलिए परम्परागत आत्मकथा विधा से अलग है आत्मकथनों ने दलित चेतना को उत्प्रेरित करके आत्म-सम्मान की जिन्दगी का मार्ग प्रशस्त किया है। दलित मानसिकता को जकड़न से बाहर निकालने की कोशिश आत्मकथनों द्वारा अभी भी हो रही है। हिंदी दलित आत्मकथनों में 'अपने-अपने पिंजरे' (दो भागों) में (मोहनदास नैमिशराय), 'जूठन' (ओमप्रकाश वाल्मीकि), 'तिरस्कृत' - दो भागों में (सूरजपाल चौहान), 'दोहरा अभिशाप' (कौशल्या बैसंत्री) मुर्दहिया (प्रो. तुलसीराम) शिकंजे का दर्द (सुशीला टाकभौरे) आदि ने एक विस्तृत फलक तैयार किया है जिनमें दलित जीवन के संदर्भों का अनुभवों की अभिव्यक्ति द्वारा स्पष्ट रूप से, ईमानदारी से उजागर किया है। वह दृ-टि समा-टिपरक है। दलित आत्मों में जो अनुभव-जगत दिखाई देता है वह सम्पूर्ण दलित समाज का प्रतिनिधित्व करता है। दलित कविता आत्मानुभव को विस्तार देती है- एक ऐसी अन्तर्दृ-टि को, जो चुनौतियों से टकराने की चेतना पैदा करती है; वि-ामता को रेखांकित करके समतावादी दृ-टि का निर्माण करती है; बल्कि और स्प-ट कहा जाए तो दलित कविता एक ऐसे परिप्रेक्ष्य का निर्माण करती है जिससे मानवतावादी समाज का सृजन हो सकता है।

वर्ण-व्यवस्था पर टिकी हिंदू धर्मव्यवस्था व सामाजिक व्यवस्था की आलोचना तथा शो-ाण और दमन के खिलाफ चेतनाशील समाज की निर्मिति दलित कविता का मूल स्वर है। मध्यकाल में रैदास, कबीर आदि संतों ने समाज की जटिलताओं को, कुरूपता एवं विद्रूपताओं की आलोचना अपने समय व परिवेश की मांग के अनुरूप की थी। 20 वीं शताब्दी के पूवार्द्ध में हीराडोम और स्वामी अछूतानंद की कविताओं ने भारतीय समाज की जड़ता को तोड़ने और झकझोरने का प्रयास किया था। अंग्रेजी उपनिवेशवाद से मुक्ति के बाद भी व-ाों से आंतरिक जाति प्रथा और भेदभाव का शिकार भारत के दलित समाज को वह आजादी नहीं मिली जो उसे मनु-य के

बतौर मिलनी चाहिए थी। आजादी की आधी शताब्दी बीतने के बाद भी दलितों के प्रति समाज के अन्य कार्यक्रमों का नजरिया क्या है? दलितों का वज़ूद क्या है? क्या अत्याचार और शो-ाण का सिलसिला खत्म हो गया है? सच यह है कि यदि दलितों को अधिकार, सम्मान और स्वतंत्रता मिली होती तो दलित कविता को परंपरगत साहित्य से अलग रचने या कहने की आवश्यकता नहीं होती। प्रकृति प्रदत्त जल, जंगल, जमीन पर उसका अपना अधिकार नहीं है। बेबसी और लाचारी की जिंदगी जीने को विवश है। बलात्कार, हत्या और अपमान का सिलसिला रुकने का नाम नहीं ले रहा है। दलितों के पास धन होने के बावजूद उनके प्रति समाज का सकारात्मक नजरिया नहीं विकसित हो पाया है। सभी मोर्चों पर यह समाज आज भी जूझ रहा है। अस्मिता की लड़ाई में कविता की भा-ना वह नहीं हो सकती जो मन में मिठास घोले। दलित कविता की भा-ना मन-मस्ति-क के तार को झंकृत करके चेतना का बीज अंकुरित कर रही है और समाज की वास्तविकता और उसकी जड़ता एवं खूंखार चेहरे को तार-तार करती है।

'दलित कवि परंपरागत रूढ़ियों को तोड़कर नए समाज की निर्मिति के लिए संघर्-ा करते रहे। दलित समाज की अस्मिता जागृत करने के लिए कविता द्वारा दलित समाज से संवाद स्थापित करते रहे।'

विगत 35-40 व-ाों में दलित रचनाकारों की जो पीढ़ी तैयार हुई है वह अपने समाज के दर्द और अनुभव का इतिहास रच रही है। भारत की सभी भा-ााओं में आपको दलित जीवन का एक ही इतिहास मिलेगा। पीड़ा का दंश एक-सा है, वैचारिक जमीन एक है, परिप्रेक्ष्य एक है। भा-ा का तेवर भिन्न हो सकता है। लेकिन सभी के प्रेरणास्रोत डॉ. आंबेडकर ही हैं। महारा-ट्र में 70 के दशक में दलित आंदोलन की ताप से तपकर रचनाकारों की जो जमात तैयार होती है निःसंदेह वह अन्य भा-ा-भा-ी साहित्य रचना के तेवर से भिन्न है। परंतु चेतना की आंधी की गति एक-सी ही है। हिंदी दलित कवियों की सर्जनात्मकता का मूल भाव, सरोकार और दृ-टि भारतीय दलित साहित्य और समाज के परिप्रेक्ष्य से जुड़कर ही विकसित हुई है। ओमप्रकाश वाल्मीकि, पुरू-ोत्तम सत्यप्रेमी, दयानंद बटोही, जयप्रकाश कर्दम, मोहनदास नैमिशराय, कंवल भारती, डॉ. सी. बी. भारती, सुशीला टाकभौरे, जयप्रकाश लीलवान, मलखान सिंह, ए.एन.सागर आदि दलित कवियों ने हिंदू वर्ण-व्यवस्था से पीड़ित समुदाय की वेदना को तीखे तेवर के साथ प्रस्तुत किया है। ऐसे कवियों की एक लंबी जमात हिंदी पट्टी में विकसित हो रही है जिनका स्वर विद्रोही और परिवर्तनकामी है। दलित कविता अपनी यातनाओं के अतीत के साथ अपने समसामयिक जीवन और परिवेश के साथ गहराई से जुड़ी हुई है जिससे उसकी प्रासंगिकता बनी हुई है।

हिंदी दलित कविता का आंदोलन चेतना के स्तर पर बहुत गहराई से जुड़ा है, जिसकी जड़ में सदियों का अन्याय, अत्याचार और शो-ाण का इतिहास है। इसलिए हिंदी की दलित कविता समय के दौर में दलित आंदोलन को स्थायित्व प्रदान करने वाली कविता है। वह वर्ण-व्यवस्था के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक वर्चस्व के खिलाफ प्रतिरोधात्मकता का अपना नया मोर्चा निर्मित करती हैं। यह सदियों की यातना है जो आक्रोश एवं विद्रोह के रूप में फूट रही है। 'मेरी पीढ़ी ने अपने सीने पर/ खोद दिया है संघर्-ा/जहाँ आंसुओं का सैलाब नहीं/विद्रोह की चिंगारी फूटेगी/ जलती झोपड़ी से उठते धुएं में/तनी मुट्ठियां/तुम्हारे तहखानों में/नया इतिहास रचेंगी।' ('सदियों का संताप' - ओमप्रकाश वाल्मीकि) हिंदी दलित कविता नया

इतिहास रचने की ऊर्जा से लैस होकर गतिशील है जहाँ न ऊंच-नीच की खाइयां होंगी, न परतंत्रता की बेड़ी और न अपमान का दंश। वहां सिर्फ चारों ओर सम्मान, स्वतंत्रता, बंधुत्व और समता का भाव होगा, मनु-य की मनु-यता होगी, मानवता होगी। आइए, अब आगे कवि और कविता के बीच के इस मर्म को ढूंढने और व्याख्यायित करने की कोशिश करें। रचनाओं में उस मनु-य की तलाश करें जिससे समतावादी समाज का निर्माण हो सकता है। हिंदी दलित कविता के विकास में उन वजहों की खोज करें जहां से यह सर्जना जन्म लेती है।

1.2 समकालीन दलित कविता का विकास

भारत को आजादी के बाद जनतंत्रीय गणराज्य के रूप में मिली मान्यता देश के संविधान द्वारा प्राप्त हुई। संवैधानिक व्यवस्था निर्देशों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि भारत देश समता, स्वतंत्रता, न्याय और भाईचारे के मूल्यों को अपनाता है। जिसके तहत सभी भारतवासी इस देश के स्वतंत्र नागरिक होने के साथ-साथ समानता, न्याय और भारत के संसाधनों में बराबर के हिस्सेदार होंगे। लिंग, वंश, धर्म, जाति, भाषा अथवा क्षेत्र के आधार पर सभी नागरिक समानता के अधिकारी हैं। देश के संविधान में मौजूद यह निर्देश सभी व्यक्ति पर एकसमान लागू है, फिर भी देश की आजादी की आधी सदी बीतने के बाद भी जाति आधारित सामाजिक संरचना के कारण भेदभाव को प्रश्रय देने वाली छुआछूत की परंपरा अपने आदिम रूप में बरकरार है। मूल स्थापना में ही अमानवीय, अवैज्ञानिक तथा जड़मूल इस प्रथा के निर्मूलन के लिए संवैधानिक प्रावधान भी मौजूद है, जिसमें जाति आधारित सामाजिक श्रेणी के कारण यदि किसी व्यक्ति के साथ छुआछूत बरती जाती हैं, उन पर अन्याय, अत्याचार किया जाता है, तो अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति अधिनियम, 1989 के तहत सजा का प्रावधान है। संविधान निर्माण समिति के अध्यक्ष और स्वतंत्र भारत के प्रथम कानून मंत्री डॉ. भीमराव आंबेडकर का सबसे बड़ा सपना था कि देश के विषमतापूर्ण सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक ढाँचे को बदलकर स्वाधीनता के मूल्य को सर्वोपरी माननेवाली समतावादी व्यवस्था यहाँ पर कायम हो सके। छुआछूत जैसी हजारों वर्षों से जीवित प्रथा को खत्म करने के कानूनी प्रावधान संविधान में एक विशेष उद्देश्य से शामिल किये गए। लेकिन हम आज क्या देखते हैं कि संवैधानिक मूल्य परंपरा को नकारकर वर्ण श्रेष्ठता के झूठे अहंवाद ने जातिप्रथा जैसी अमानवीय विषमतावादी परंपरा को जीवित रखा। यह मात्र मानव की गरिमा, सम्मान, पहचान का ही अवमूल्यन नहीं करती बल्कि आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक, शैक्षिक क्षेत्र से भी निकासित, बहिष्कृत करती हैं। धर्म द्वारा मान्यता प्राप्त जाति आधारित विषमतावादी समाज संरचना को जीवित और कायम रखने से समाज का एक बहुत बड़ा श्रमजीवी वर्ग कथित मुख्य धारा से बहिष्कृत रखा है। इनके मानवाधिकारों का सरेआम उल्लंघन किया जाता है। अपमान, प्रताड़ना, उत्पीड़न, हत्या, सामूहिक हत्याकांड और दलित स्त्री पर बलात्कार जैसे जघन्य अत्याचारों को प्रश्रय देने वाली यह प्रथा अपने उग्र रूप में दलितों के संवैधानिक अधिकारों का हनन करती हैं। उनकी पहचान हमारे भारतीय समाज में अछूत, अंत्यज, अस्पृश्य, और पंचमवर्ण के रूप में ही होती है, जो संविधान के तहत प्राप्त सुरक्षा व नागरिक अधिकारों से वंचित करती है। आपके मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि, संविधान द्वारा दिये गये निर्देश और कानूनों के उल्लंघन के बाद सुरक्षा के लिए तैनात राज्यव्यवस्था क्यों मूक बनी रहती है? यह सीधे तौर पर संविधान द्वारा स्वीकृत समता, स्वतंत्रता, न्याय और भाइचारे जैसे मानव मूल्यों की अवहेलना और अपमान है। तब दूसरा सवाल भी उठाया जाना चाहिए कि राज्य द्वारा सभी के सुरक्षा हेतु बनी पुलिस व्यवस्था, विधि

व्यवस्था, न्यायपालिकाएं अपनी भूमिका का निर्वाह करने में क्यों सफल नहीं हो पा रही हैं। आप हर दिन सुनते आ रहे हैं कि अन्यायकारी और अत्याचारी खुले आम घूमते हैं और गरीब दलित आदिवासियों, महिलाओं के शोषण करने की पूरी छूट उन्हें पुलिस की शह पर मिलती रहती है।

जाति श्रेष्ठता के दंभ, अहंकार और वर्चस्व को मान्यता देने वाली व्यवस्था दरकती नहीं और निम्नता के बोध को बनाये रखने की सत्ताकेंद्रों की कोशिश कामयाब हो रही है तब तक जाति के सोपानीकृत व्यवस्था को बदलकर नयी समतावादी व्यवस्था स्थापित करने के प्रयास तीव्र नहीं हो पाते। हम देख सकते हैं कि दलित साहित्य आंदोलन समता मूल्याधारित समाज स्थापना के लिए यथास्थितिवादी विचारों को नकार कर मनुष्य सम्मान के लिए अनवरत प्रयास करता हुआ इसी उद्देश्यपूर्ति के लिए अग्रसर है।

भारतीय संविधानात्मक जनतांत्रिक व्यवस्था निर्देशों के अनुसार समता, स्वतंत्रता, न्याय और भाइचारे के मूल्यों को अपनाकर नए भारत देश निर्माण की कल्पना की गई थी जिसमें छुआछूत जैसी अमानवीय, अवैज्ञानिक, जड़मूल प्रथा को खत्म करने के कानूनी प्रावधान किए गए। लेकिन भारत की जाति संरचना में बुनियादी रूप से गुणात्मक परिवर्तन नहीं हुआ। आज तक भी आधारित समाज में छुआछूत बेखटके, बेरोकटोक, हर क्षेत्र में मौजूद हैं। छुआछूत की इस निघृणता, निर्ममता और निरंकुशता के कारण स्कूलों में दलित बच्चे, दफ्तरों में सरकारी कर्मचारी, कॉलेज, विश्वविद्यालयों में शिक्षक, तथा सामाजिक जीवन में हर वह इंसान, जिसे जन्मना अछूत, अस्पृश्य, अंत्यज, पंचमवर्ण, टूटे हुए लोगों के रूप में बहिष्कृतों की तरह रखा गया, वे आज भी इस जघन्य प्रथा के कारण अपमानित किए जा रहे हैं। जातिगत आधार पर परंपरागत व्यवसाय करने की मजबूरी से भी उन्हें मुक्ति नहीं मिली। जातिनिहाय काम, धंधे, व्यवसाय, पेशों को करने की मजबूरी के चलते कथित श्रेष्ठ श्रेणी अथवा जातियाँ उनसे छुआछूत बरतते हैं। सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक स्थानों पर आज भी उनका प्रवेश वर्जित है, वंचितों की दीनहीन दशा में रहते हुए अपमानित, उत्पीड़ित जीवन जीने की बाध्यता उन पर थोपी गई हैं। आर्थिक सबलता देने वाले सभी संसाधनों से धर्म द्वारा वंचित तथा व्यापार-उद्योग करने पर पाबंदी लगाए जाने से दलित जन्म आधारित पेशे, व्यवसाय करने को बाध्य किये गए। उत्पादन के क्षेत्र में उनकी भूमिका केवल मजदूर, अथवा बंधुआ मजदूर तक की ही रही है। इसलिए दलित आर्थिक रूप से अत्यंत पिछड़ा, उपेक्षित, वंचित रहा। जातिप्रथा के अभिशाप अस्पृश्यता का प्रभाव क्षेत्र इससे भी अधिक व्यापक है। आजादी के बाद देश में हुए विकास के भी वे लाभार्थी नहीं हैं। उनकी बस्तियों में मूलभूत सुविधाएं भी बड़ी मुश्किल से पहुँचती हैं। इस खंड की दूसरी इकाई में नीरा परमार की कहानी 'वैतरणी' भेदभाव की समस्या पर मार्मिक टिप्पणी करती है। पारंपारिक जातिवादी मानसिकता को ढोने वाले सवर्णों की अमानवीयता को उद्घाटित करते हुए नागरिक अधिकारों से वंचित किए जाने के दर्द को भी रेखांकित करती है। संवैधानिक अधिकारों को हासिल करने में जाति किस प्रकार आड़े आ जाती है। जाति की सोपानीकृत व्यवस्था में लाभ, सुख-सुविधा तथा विकास के साधनों को बाँटने में कथित श्रेष्ठ जातियों को प्राथमिकता देती पुरोहिती परंपरा आज भी यथावत चल रही हैं। क्षेत्र विशेष से चुने गए विधायक पानी का हैंडपंप (चापाकल) लगाने का निर्णय अंततः गांव के पंडित के पक्ष में ही लेते हैं। जबकि दलित बस्ती को स्वच्छ पानी मुहैया नहीं हो रहा है और इसके लिए मंगतूराम डोम ने अर्जी भी दी है, परंतु धर्म के

प्रभाव और तथाकथित ब्राह्मण का आशीर्वाद को परम महत्व देकर विधायक के मरे हुए भाई के लिए मोक्ष की कामना करता नजर आता है। इसलिए बिना अर्जी के ही ब्राह्मण के दरवाजे पर चापाकल लगाने का आदेश देकर सार्वजनिक चापाकल पर पानी लेते समय ब्राह्मण दंपत्ति को छुआछूत से बचाकर धर्म की रक्षा करके पुण्य भी कमाना चाहता है। जाति की मिथ्या पवित्रता की रक्षा के आगे दलितों को पीने का स्वच्छ पानी की आपूर्ति हो जाती है। धर्म निर्मित जाति के साथ जोड़े गए पवित्र-अपवित्रता के ढकोसले ने यहाँ उजागर किया है। राजनीति को अपने पक्ष में करके जाति की जड़मूल संस्कृति ने शहरी विकास के बरवस गांव-देहात, कस्बों, नगरों के विकास की गति अवरुद्ध किए रखी है। वैतरणी कहानी के डोम बस्ती की बदहाल, जर्जर अवस्था के लिए जिम्मेदार व्यवस्था के विषमतावादी रवैये का सच बयान करती हैं। राजनीतिक भ्रष्टाचार के पीछे जाति अहंकार की अन्यायकारी सोच अपने मूल पारंपरिक स्वरूप में आधुनिक काल तक किस प्रकार जिंदा है; जो शोषणविहीन समाज निर्माण के संवैधानिक प्रावधानों को सही मायने में नाकाम किए हुए हैं। पुरातन मान्यताओं के वर्चस्व ने आधुनिक भारत के मानचित्र को खंडित, कुंठित, जड़वादी, संकीर्ण बनाकर रखा है। डॉ. आंबेडकर ने जातिव्यवस्था के विधि विधान की अतार्किकता पर प्रश्न उठाते हुए 'जाति भेद का उच्छेद' किताब में जातिप्रथा के क्रूर स्वरूप के बारे में लिखा है।

"चातुर्वर्ण्य की इस अधम व्यवस्था के कारण हिन्दुओं के निम्न वर्ग सीधी कार्रवाई करने में पूर्णतः अशक्त बन गए हैं। वे हथियार धारण नहीं कर सकते थे, और उन्हें हल को तलवारों में बदलने की भी अनुमति नहीं दी गई। उनके पास संगीनें नहीं थी इसलिए कोई व्यक्ति उन पर प्रभुत्व जमा लेता। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के कारण वे शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके। वे अपनी मुक्ति का मार्ग नहीं सोच सके या ज्ञात कर सके। उन्हें सदैव दबाकर रखा गया, उन्हें अपने छुटकारे का न तो रास्ता मालूम था और न ही उनके पास साधन थे। उन्होंने अनंत दासता से समझौता कर लिया और ऐसी नियति पर संतोष कर लिया, जिससे उन्हें कभी छुटकारा नहीं मिल सकता था।"

तीन हजार वर्षों से अधिक समय से चली आ रही वर्ण-जाति व्यवस्था की क्रूरता ही है कि उत्पीड़न के शिकार दलित (अछूत) बहिष्कृत बस्तियों में रहने को बाध्य कर दिये जाते। जाति संरचना की जटिलता ने, श्रेष्ठ-कनिष्ठ, पवित्र-अपवित्र, मालिक-गुलाम की जिस परंपरा को स्वाधीन भारत में जीवित रखा है वह सबसे अधिक स्वाधीनता को ही प्रश्नांकित करती है। स्वाधीन भारत का संविधान समता, स्वतंत्रता, भाईचारा, और न्याय के मूल्यों को गणतंत्र के बुनियादी मूल्यों के रूप में अपना चुका है। तब जनतांत्रिक गणराज्य में अस्पृश्यता अपने पूर्वरूप में क्यों कायम है? स्वतंत्रता आंदोलन के समानांतर जाति निर्मूलन के प्रयास जारी थे। दलित मुक्ति आंदोलन का आरंभ डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर ने 20 दिसंबर, 1927 को छुआछूत जैसी अमानवीय प्रथा के विरोध में महाड के चवदार तालाब का पानी छूकर किया था। इसके तुरंत बाद 25 दिसंबर को जाति व्यवस्था को ईश्वरनिर्मित बताने वाले हिन्दूधर्म ग्रंथ मनुस्मृति को जलाकर अस्पृश्यता का घोषित सार्वजनिक विरोध प्रकट किया। हजारों की संख्या में दलित स्त्री पुरुष-बच्चे इस ऐतिहासिक मुक्ति संघर्ष में शामिल हुए थे। नासिक का प्रसिद्ध कालाराम मंदिर-प्रवेश-सत्याग्रह इसी मुक्ति संघर्ष का अगला पड़ाव था। प्रस्थापित सनातनी धर्मावलंबियों ने हिंसात्मक हमलों द्वारा दलित मुक्ति के संघर्ष को रोकने के प्रयास किए। दलित मुक्ति संघर्ष ने सदियों से उत्पीड़ित, अपमानित, वंचित, बहिष्कृत और शोषित

दलित वर्ग में हजारों वर्षों की वर्ण-जाति-दास्य प्रथा निर्मूलन संगर ने उत्पीड़ित, अपमानित, वंचित, बहिष्कृत और आत्मसम्मान, अस्मिता और अस्तित्व बोध जगाया। पहचान के प्रति सचेत हो रहे दलित वर्ग को सामाजिक दासता से मुक्त कराने के सामाजिक-सांस्कृतिक प्रयासों को जारी रखा।

1.3 दलित साहित्य आंदोलन की प"ठभूमि परंपरा और स्वरूप

डॉ. आंबेडकर ने शिक्षा के महत्व को समझा था इसलिए सन् 1945 में बंबई में पीपुल्स एज्युकेशन सोसाइटी की स्थापना की, इसके अंतर्गत ही बंबई के सिद्धार्थ कालेज और औरंगाबाद के मिलिंद कालेज की उन्होंने स्थापना की। इन दोनों ही शिक्षा संस्थानों का डॉ. आंबेडकर की विचारधारा को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका रही। 6 दिसंबर, 1956 में डॉ. आंबेडकर के देहावसान के बाद दलित साहित्य आंदोलन की बागडोर इन्हीं दो कॉलेजों से शिक्षित दलित युवकों ने संभाली।

सन् 1956 में 'सिद्धार्थ साहित्य संघ' साहित्य संस्था की स्थापना हुई जिसका नाम बाद में 'महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ' रखा गया। इसी के बाद दलित साहित्य सृजन और उसके प्रकाशन में तेजी आई। दलित रचनाएँ रिपब्लिकन पार्टी के मुखपत्र जनता, प्रबुद्ध भारत, बहिष्कृत भारत, मूकनायक आदि समाचार पत्रों के अलावे अन्य पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगी। रचनात्मक अभिव्यक्ति की कोई ठोस परंपरा इन रचनाकारों को दिशादर्शन करने के लिए नहीं थी, इस कारण परंपरागत मराठी साहित्य के ढांचे को ही अपनाने के प्रयास शुरुआती दिनों में दिखाई देते हैं। दलित साहित्य भी खांडेकर और फड़के युग से प्रभावित हुए बिना न रहा। लेखक वर्ग में यह सोच भी आकार लेने लगी थी कि दलित जीवन त्रासदी की वास्तविकता को चित्रित करना ही रचनात्मक अभिव्यक्ति का उद्देश्य हो। मराठी के दलित साहित्य से रचनाकारों का मोहभंग हो चुका था। सदियों से हाशिये पर गुजर-बसर करने वाले दलित, आदिवासी, घुमंतू वर्ग का जीवन साहित्य का विषय ही नहीं बना। मराठी ललित साहित्य मात्र आभिजात्य वर्ग के मनोरंजनपूर्ति और कल्पनाविलास को ही चित्रित करता रहा। शोषित, वंचित तथा त्रासद जीवन कभी आभिजात्य साहित्य में प्रतिबिंबित नहीं हुआ। साहित्य को पवित्रता, शालीनता, सौंदर्यबोध के मिथ्या आवरण में छुपाकर सामान्य बहुजनों को इससे अलग-थलग रखा गया। एक ही वर्ग के सुख, आनंद, उल्लास, राग-रंग, भाव-भंगिमा, रस-अलंकार, सौंदर्यतत्व, कलात्मकता को ही मानदंड मानने वाला और उसी को चित्रित करने वाला साहित्य उत्पीड़ित, शोषित, वंचितों के जीवन संदर्भों को छू भी नहीं सका। इस क्षति के लिए मुख्यधारा का वर्ग जिम्मेदार है। जो साहित्य उनके जीवन त्रासदी को अभिव्यक्त नहीं कर सकता उस साहित्य को वे अपना साहित्य कैसे माने? इस पृष्ठभूमि में 'महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ' ने दलित लेखकों का प्रथम सम्मेलन 2 मार्च 1958 को मोरबाग में दादर मुंबई के बंगाली हाई स्कूल में आयोजित किया। जिसके अंतर्गत 'दलित वर्गातील वांड्मयाचा दृष्टिकोण काय असावा।' (दलित साहित्य की दृष्टि) विषय पर एक निबंध प्रतियोगिता आयोजित की गई थी। दलित साहित्य की आवश्यकता के बारे में बंधुमाधव ने प्रबुद्ध भारत में लिखा जिस प्रकार रूसी लेखकों ने अपनी रचनाओं द्वारा लेनिन के क्रांतिकारी विचारों का प्रचार-प्रसार करके रशियन क्रांति की मदद की थी, उसी प्रकार डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर के विचारों को गाँव-गाँव तक पहुँचाने का कार्य दलित साहित्यकार करें।

इस सम्मेलन के अवसर पर प्रबुद्ध भारत का विशेषांक छपा था, जिसके संपादकीय में दलित साहित्य की व्याख्या इस प्रकार की गई इस विषम समाज व्यवस्था के विरुद्ध

दलित समाज का संघर्ष निरंतर चलता रहेगा और इस संघर्ष का इतिहास ही दलित साहित्य होगा। इस सम्मेलन में यह माँग की गई थी कि मराठी साहित्य की एक धारा के रूप में दलित साहित्य को मान्यता देकर सम्मिलित किया जाए। विभिन्न साहित्य संघ और विश्वविद्यालयी पाठ्यक्रमों में दलित साहित्य रचनाओं का समावेश किया जाए।

दलित लेखकों के इस प्रथम सम्मेलन से दलित साहित्य आंदोलन की मुकम्मल तस्वीर उभरकर आयी। इस सम्मेलन की खबर दैनिक मराठा समाचारपत्र के अलावा किसी अन्य समाचार पत्रों ने नहीं छापी। इस सम्मेलन में महत्वपूर्ण लेखक और आलोचक घनश्याम तळवटकर, कॉ. आर.बी. मोरे, दिनेश लखमापूरकर, टी.पी. अडसूळ, राम उपशाम, जनार्दन वाघमारे, अण्णा रणपिसे, दादा रूपवते, बन्धुमाधव, भाई नरेन्द्र मोरे, चोखा कांबळे, म.दु. ताम्हणेकर, यादवराव गांगुर्डे तथा डी. वाय कांबळे उपस्थित थे। ये सभी लेखक रिपब्लिकन पार्टी से संबंधित थे या उसके कार्यकर्ता थे। डॉ. बाबा साहेब आंबेडकर की मृत्यु के बाद रिपब्लिकन पार्टी दो हिस्सों में बंट गई थी इसके प्रभाव स्वरूप 'महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ' भी दो धड़ों में बँट गया जिसके एक हिस्से को 'महाराष्ट्र बौद्ध परिषद' और 'महाराष्ट्र बौद्ध साहित्य सभा' के नाम से चिन्हित किया गया। इन दोनों साहित्यिक संस्थाओं का दलित साहित्य आंदोलन को गति देने में बड़ा योगदान रहा है। दलित जीवन व्यथा को अपनी रचनाओं के माध्यम से अभिव्यक्त करने वाले प्रमुख दलित लेखक थे अण्णाभाऊ साठे, शंकरराव खरात और बाबूराव बागुल। बाबूराव बागुल की कहानियाँ दलितों के दुःख, पीड़ा और वेदना को अभिव्यक्त करने के साथ ही विषमता के सामाजिक व आर्थिक पहलुओं को उजागर कर रही थी। 'विद्रोहाच्या कविता' शीर्षक से उनकी कविताओं का एक संकलन इसी समय प्रकाशित हुआ था। इस संकलन को प्रिंटिंग प्रेस में नहीं बल्कि इसकी प्रतियाँ सायकलोस्टाइल में छपी थी।

अस्पृश्यता के दाहक अनुभवों से झुलसे दलित जीवन की अभिव्यक्ति से दलित साहित्य का नया और विशिष्ट तेवर परिलक्षित हुआ। उनकी एक कविता यहाँ उदाहरण रूप में प्रस्तुत है - ''यहाँ (इस देश में) जन्म लेने की भूल जिन्होंने की है वे ही इसे सुधारेंगे देश त्याग करके या भीषण युद्ध करके।''

'बाबूराव बागुल' के 'जेंव्हा मी जात चोरली' (जब मैंने जाति छुपाई) नामक कहानी संग्रह में छपी कहानियों ने मराठी साहित्य की परंपरावादी मानसिकता को झकझोर दिया था। मराठी ललित साहित्य के इतिहास में इससे पहले किसी लेखक ने दलित जीवन की विवशता और अपमान की पीड़ा को कहानी या कविता में इतने प्रभावी रूप में अभिव्यक्त नहीं किया था। मराठी समीक्षकों ने इस कहानी संग्रह की काफी सराहना की थी। बाबूराव बागुल द्वारा अपनाई कथा शैली की प्रस्तुति के लिए मराठी ललित साहित्य के समीक्षा मानदंडों का चित्र फलक छोटा पड़ गया था। आभिजात्य समीक्षा मानदण्डों से मराठी के परंपरागत ललित साहित्य का मूल्यांकन तो किया जा सकता था लेकिन दलित साहित्य के मूल्यांकन के लिए मराठी समीक्षा को अपने मानदंड बदलने पड़े।

इस समय तक मराठवाडा क्षेत्र का औरंगाबाद शहर दलित साहित्य आंदोलन का केंद्र बन चुका था। इस संबंध में डॉ. म.ना. वानखड़े का मत है 'महाराष्ट्र' के हृदय औरंगाबाद में डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर ने मिलिंद महाविद्यालय की स्थापना की। यहाँ महाराष्ट्र के कोने-कोने से दलित विद्यार्थी शिक्षाग्रहण करने आने लगे। यही 'नागसेनवन' में स्थित 'मिलिंद महाविद्यालय' और 'औरंगाबाद', दलित साहित्य

आंदोलन का केन्द्र बन गए। यहीं से दलित साहित्य का आंदोलन अपना रूप गढ़ रहा था। शिक्षित सुसंस्कृत दलित युवकों के मन में अपने जीवन अनुभवों को शब्दांकित करने की इच्छा जाग उठी थी। कहानी, कविताएँ लिखी गईं। परंतु प्रश्न था उनको प्रकाशित करने का। क्योंकि रचना का विषय तथा आशय दलित जीवन से संबंधित था। लेखक की रचना प्रकाशित न हो सके तो उसे मर्मान्तक यातनाएँ होती हैं। परंतु लेखन शक्ति को इस तरह दबाकर नहीं रखा जा सकता था। पत्थर को तोड़कर पानी का स्रोत मैदान की ओर बहने के लिए जिस प्रकार व्याकुल रहता है उसी प्रकार की व्याकुलता रचनाकार में भी होती है। इस व्यग्रता को देखकर हमने इस आह्वान को स्वीकार किया। मैंने अपने सहयोगियों की सहायता से 'दलित साहित्य मंच' की स्थापना का निश्चय किया। मराठी साहित्य क्षेत्र में विशिष्ट वर्ग के वर्चस्व एवं फार्म संबंधी गलत दृष्टिकोण के कारण, दलित जीवन इससे पहले कभी साहित्यिक विषय नहीं बन सका। हमने सन् 1967 में 'मिलिन्द साहित्य सभा' की स्थापना की। जिसके अंतर्गत 'अस्मिता' पत्रिका का प्रारम्भ हुआ। मिलिन्द साहित्य सभा, अस्मिता, अस्मितादर्श और दलित साहित्य आंदोलन का जन्म आंबेडकर दर्शन से प्राप्त प्रेरणा के फलस्वरूप लेखकों में जगे आत्मबोध और सामाजिक दायित्व के अहसास से हुआ है।

विश्व के अनेक देशों में हुई क्रांति में साहित्य की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण रही है। जनता को क्रांति के लिए प्रेरित करके उनका मनोबल बढ़ाने में साहित्य की भूमिका अहं होती है। रूस की क्रांति, बंगला देश का मुक्तिसंग्राम इसके उदाहरण हैं। क्यूबा, चिली जैसे छोटे देशों के स्वतंत्रता आंदोलनों में भी साहित्य ने ऐतिहासिक भूमिका निभाई है। भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में भी भारतीय साहित्य ने क्रांतिकारी भूमिका निभाई। साहित्य के महत्व को जानकर प्रगतिशील लेखक संघ के इलाहाबाद अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण में जवाहरलाल नेहरू ने भावी क्रांति हेतु देश को तैयार करने के लिए लेखकों का आह्वान किया था। समस्याओं का हल और लोगों का मार्गदर्शन हेतु लेखकों को रचनाकर्म के महत्व को समझाया था। साहित्य लोगों के दिल में उतर कर उन पर अमिट छाप छोड़ता है।

मराठी दलित साहित्य इस विषमतापूर्ण समाजव्यवस्था में दलितों को समता, स्वाधीनता, बंधुत्व और न्याय दिलाने के क्रांतिकारी उद्देश्य के साथ रचनात्मकता की नई दिशाएं खोल रहा है। दलित साहित्य की आवश्यकता और भूमिका के बारे में दलित लेखकों को संबोधित करते हुए डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर ने कहा था- 'हमारे जीवन, कर्तव्य और संस्कृति' की ओर हमें ध्यान देना होगा। अंतर्मुख होकर विचार करने से हमारे सामने वह भयवह स्थिति स्पष्ट हो जाएगी कि हमारे जीवन मूल्य और सांस्कृतिक मूल्य नष्ट हो रहे हैं। अतः नष्ट हो रहे इन जीवनमूल्यों और सांस्कृतिक मूल्यों को बचाने के लिए दलित साहित्यकारों को जागरूकता के साथ प्रयत्नशील हो जाना चाहिए। तुम्हारे उपन्यासों-कथाओं की सीता अब लक्ष्मण रेखा पार करके आगे जा चुकी है। दुर्योधन के दरबार में द्रौपदी का वस्त्र हरण हो रहा है। दुष्यन्त शकुंतला से अपना सही परिचय छुपा रहा है, इसलिए शकुंतला को बनवास मिला है। ऐसी स्थिति में साहित्यकारों का मैं आह्वान करता हूँ कि वे विभिन्न साहित्यिक विधाओं के द्वारा उदात्त जीवनमूल्य और सांस्कृतिक मूल्यों को रेखांकित करें। अपने लक्ष्य को मर्यादा में नहीं बांधे वह मानवीय गरिमा हासिल करने का माध्यम बनें।

वाणी का विस्तार करो, अपनी लेखनी को केवल अपने प्रश्नों तक सीमित मत रखो। उसे तेजस्वी बनाओ जिससे गांवों में फैला अंधकार दूर हो सके। यह मत

भूलो कि इस भारत देश में उपेक्षित दलितों का बहुत बड़ा विश्व है। अपनी रचनाओं में बहुजन की वेदना की अभिव्यक्ति द्वारा जीवन प्रकाशमान करने में ही मानवता है।' इन विचारों से यह स्पष्ट होता है कि डॉ. आंबेडकर ने साहित्य के क्रांतिकारी भूमिका को पहचाना और इसके लिए लेखक वर्ग को क्रांति का वाहक बनने का आह्वान किया। परिणामस्वरूप 27 नवम्बर सन् 1947 को 'मिलिन्द साहित्य परिषद' की स्थापना की गई जिसके तहत 'अस्मिता' का प्रकाशन हुआ। आगे यही पत्रिका 'अस्मितादर्श' के नाम से प्रकाशित होने लगी। इस पत्रिका के प्रकाशन से दलित लेखकों में नया उत्साह पैदा हुआ। उन्हें अपनी रचनाएँ प्रकाशित करने का सशक्त साहित्यक मंच मिला था।

दलित साहित्य आंदोलन को निश्चित दिशा देने और उसका विकास करने में त्रैमासिक पत्रिका 'अस्मितादर्श' का बहुत बड़ा योगदान रहा है। बाबूराव बागुल, दया पवार, अर्जुन डांगळे, वामन निंबाळलकर, नामदेव ढसाळ, केशव मेश्राम, वामन इंगळे, ज.वि. पवार यशवंत मनोहर, शंकरराव खरात, कुमुद पावड़े, ज्योति लांजेवार, हीरा बनसोडे, उर्मिला पवार जैसे सशक्त वरिष्ठ दलित लेखकों की रचनाएँ प्रकाशित करके 'अस्मितादर्श' ने लेखकों की दो पीढ़ियों को मंच प्रदान किया। 'अस्मितादर्श' ने साहित्यिक दायित्व के साथ-साथ सामाजिक दायित्व का निर्वाह किया।

दलित साहित्य के विकास में मार्क्सवादी लेखक और समीक्षकों का भी योगदान रहा है। इनमें मुख्य हैं शरतचंद्र मुक्तिबोध, श्री नेरूरकर, डॉ. सदा करहाडे, नारायण सुर्वे, वामन इंगळे रा.ग.जाधव, दि. के. बेडेकर, वा.ल. कुलकर्णी रूप से दलित साहित्य आंदोलन के प्रमुख केन्द्र नागपुर, मुंबई, औरंगाबाद और नासिक थे। महाराष्ट्र बौद्ध साहित्य सभा द्वारा आयोजित सम्मेलन में दलित साहित्य लेखन संबंधित महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार विमर्श करने हेतु किया था। इसी सम्मेलन में दलित कविताओं के प्रथम संकलन 'आकार' का प्रकाशन हुआ जिसमें बाबूराव बागुल, दया पवार, अर्जुन डांगळे, यादवराव गांगुर्डे, हरीश बुकाणे, चोखा कांबळे, बंधुमाधव, श्रीमती हीरा बनसोडे की कविताएं थी। सन् 1967 में बाबूराव बागुल का कहानी संकलन 'मरण स्वस्त होत आहे' (मृत्यु सस्ती हो रही) प्रकाशित हुआ। यह दलित साहित्य का महत्वपूर्ण दस्तावेज है। इसके बारे में अर्जुन डांगळे ने कहा हैः ''बाबूराव की कहानियों पर भाष्य करना बड़ा कठिन है। उनकी भाषा की दाहकता और दिल हिला देने वाला अनुभव-विश्व आज तक की कहानी परंपरा को तोड़ कर आगे निकल जाता है। परंपरागत कला मूल्यों के कैनवास पर उसे उतारना कठिन है। इससे दलित साहित्य की समीक्षा के लिए नये समीक्षा मूल्यों की आवश्यकता है यह बात स्पष्ट हो जाती है।''

मराठी दलित साहित्य के अंतर्गत जिस अनुभव विश्व की अभिव्यक्ति हुई उसका प्रगतिशील मराठी समीक्षकों ने स्वागत किया। परंतु मराठी के परंपरावादी समीक्षकों ने इस साहित्यधारा का विरोध किया। कलावादी समीक्षकों के लिए इस अनोखे अनुभव विश्व और उसकी अभिव्यंजना को समझना कठिन था। दलित साहित्य उन्हें मूल्यहीन और प्रचारात्मक लगने लगा क्योंकि उनका दृष्टिकोण पूर्वाग्रही था। किंतु रा.ग. जाघव, दि.के. बेडेकर, वा.ल.कुलकर्णी, शरच्चंद मुक्तिबोध आदि प्रगतिशील समीक्षकों ने दलित साहित्य का खुले दिल से स्वागत किया। सन् 1968 के बाद दलित लेखकों ने साहित्य आलोचना का जीवनवादी व्यापक दृष्टिकोण विकसित किया।

इसी समय बंबई में दलित लेखक, कवियों के संयुक्त प्रयासों से 'विद्रोह' नामक अनियतकालीन पत्रिका का जन्म हुआ, जिसमें दया पवार, केशव मेश्राम, अर्जुन डांगळे,

नामदेव ढसाळ, उमाकांत रणधीर, ज. वि. पवार, योगेन्द्र मेश्राम, आदि कवियों की रचित बाकी विद्रोहात्मक कविताओं में दलित जीवन यथार्थ मुखरित होने लगा। दैनिक समाचार पत्र 'मराठवाडा' ने सन् 1969 में दीपावली विशेषांक के उपलक्ष्य में दलित साहित्य पर परिचर्चा अयोजित की थी, जिसमें डॉ. म. ना. वानखडे, दया पवार, बाबूराव बागुल, प्रा.म.मि. चिटणीस आदि दलित अदलित रचनाकारों और समीक्षकों ने हिस्सा लिया था। इन सभी ने एक स्वर में मराठी साहित्य परंपराओं को नकारा। इस चर्चा के परिणामस्वरूप मराठी साहित्य क्षेत्र में दलित साहित्य के तीखे तेवर और विद्रोहात्मक भूमिका पर चर्चा प्रारंभ हुई। 'महाराष्ट्र बौद्ध साहित्य सभा' के तत्वावधान में फरवरी सन् 1969 में दलित साहित्य का दूसरा सम्मेलन 'महाड' जैसे ऐतिहासिक स्थान पर आयोजित किया गया। इसी जगह से डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर ने चवदार जलाशय के पानी का स्पर्श करके दलित मुक्ति आंदोलन का प्रारंभ किया था। इस सम्मेलन के उद्घाटक प्रसिद्ध समीक्षक प्रा.वा.ल. कुलकर्णी थे जिन्होंने अपने भाषण में कहा था - 'परंपरागत मराठी साहित्य के विरुद्ध दलित साहित्यकारों को संघर्ष करना चाहिए।'

दलित साहित्य सम्मेलनों के यशस्वी होने से और नए परिवर्तनशील विचारों के प्रसार से दलित लेखक कवियों का उत्साह बढ़ता गया और दलित चेतना से संपृक्त अर्थपूर्ण रचनाए मराठी साहित्य में दलित साहित्यधारा के रूप में विशेष स्थान ग्रहण करने लगी। सन् 1970 में बाबूराव बागुल की 'सूड' (बदला) नाम की दीर्घ कहानी, सन् 1972 में नामदेव ढसाळ का 'गोलपिठा' 'कविता' संकलन प्रकाशित हुए जिसकी विषयवस्तु, दर्शन, सरोकार, चेतना, भाषा और शैली पर मराठी साहित्यकारों के बीच काफी चर्चा रही।

वामन निंबाळकर कृत 'गांवकुसाबाहेरील कविता' संकलन, 'दया पवार' का 'कोंडवाडा' (बंदीगृह) अर्जुन डांगळे का छावणी हलते आहे इस दौर के महत्वपूर्ण कविता संकलन थे। यशवंत मनोहर का 'उत्थान गुंफा', ज.वि.पवार का 'नाकेबंदी' त्र्यंबक सपकाके रचित सुरूंग', नारायण सुर्वे का 'माझे विद्यापीठ'।

मराठी साहित्य समीक्षकों को दलित साहित्य की मूल चेतना को समझने में देर लगी। जिन्हें दलितों के संघर्षमय और अपमानित जीवन की कल्पना भी नहीं थी उनके लिए इस साहित्य का सही मूल्यांकन करना कठिन था। अर्जुन डांगळे के अनुसार ''अगर किसी कलाकृति की मूल प्रवृत्ति को ही कोई न समझ सके, तो उस कलाकृति का आशय अनुभवों की विशिष्टता, गहनता और मार्मिकता प्रकृति, संरचना को समझना संभव नहीं है।'' समीक्षक अगर दलित समाज की जीवनपद्धति से परिचित नहीं है और दलित अनुभवों की गहराई को नाप नहीं सकते तो वे दलित साहित्य की समीक्षा प्रामाणिक रूप से अथवा निपक्ष होकर नहीं कर सकते। इसके लिए उन्हें दलित जीवन के अनुभवों से गुजरने की आवश्यकता नहीं है, अपितु भारतीय समाजव्यवस्था, जातिव्यवस्था, ऊंच-नीच का भेदभाव, गांवों की आर्थिक, सामाजिक दशा, भारतीय मानसिकता, संस्कृति आदि की वास्तविकता को समझने की और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विश्लेषण करने की नितांत आवश्यकता है। दलित साहित्य आंदोलन और दलित मुक्ति आंदोलन एक दूसरे से जुड़े हुए आंदोलन हैं। सामाजिक स्तर पर सक्रिय दलित मुक्ति आंदोलन से प्रेरणा लेकर दलित साहित्य आंदोलन साहित्यिक क्षेत्र में नई चेतना का विस्तार कर रहा था। इसी चेतना की अगली कड़ी थी 'दलित पैंथर' आंदोलन।

1.4 दलित साहित्य आंदोलन में 'दलित पैंथर' की भूमिका

'दलित पैंथर' संगठन दलित मुक्ति संग्राम का एक जुझारू दस्ता था, जिसकी प्रमुख भूमिका राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में देखी जा सकती है। इस संगठन से अनेक दलित लेखक भी जुड़े थे। दलित पैंथर का उदय अत्यंत विषमतापूर्ण सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों में हुआ। गाँव देहातों, कस्बों तथा नगरों में सवर्ण भूमि मालिक, सवर्ण सामंत और प्रशासन की ओर से दलितों पर अत्याचारों का सिलसिला आजादी से पहले जैसा था वैसा ही जारी रहा। दलित कभी अस्पृश्य होने के नाते तो कभी भूमिहीन गरीब किसान के नाते विभिन्न अत्याचारों का शिकार हो रहे थे। शहरों में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के कारण बेरोजगार युवावर्ग एक ओर जाति शोषण, अवमानना झेल रहे थे तो दूसरी ओर आर्थिक रूप से गरीब, साधनहीन होने के कारण अपमानित, वंचित युवक परवहीन भावना से ग्रस्त था। दिशाहीन दलित युवक वर्ग मोहभंग की स्थिति में पहुँच चुका था। गाँवों और शहरों में शिक्षित दलित युवकों की संख्या बढ़ रही थी। ग्रामीण क्षेत्रों में सक्रिय दलित मुक्ति आंदोलन से चेतनाशील युवक वर्ग तत्कालीन समाज व्यवस्था के भेदभावपूर्ण संरचना की वास्तविकता को समझने लगा था। इसे बदलने के लिए संगठित प्रयासों का सिलसिला चल पड़ा था। सामाजिक अन्याय, अत्याचारों की पृष्ठभूमि में 'रिपब्लिकन पार्टी' की निष्क्रियता युवा मन को क्षुब्ध कर रही थी। दलित युवकों को अमानवीय अन्याय को उजागर करने के लिए प्रभावी माध्यम की तलाश थी। सदियों से संचित संत्रास, आक्रोश और प्रतिरोध की अभिव्यक्ति कविता जैसे सशक्त रचनात्मक माध्यम द्वारा ही संभव हुई। इसी समय मुंबई के सिद्धार्थ कालेज के छात्रावासों में रहने वाले दलित और अदलित युवकों के संयुक्त प्रयास से 'युवक आघाड़ी' की स्थापना हुई जिसमें प्रमुख दलित युवा रचनाकार भी शामिल थे। दया पवार, अर्जुन डांगळे, नामदेव ढसाळ, ज.वि. पवार, प्रह्लाद चेंदवणकर, राजा ढाले आदि दलित युवा रचनाकार अमरीका के निग्रो साहित्य और निग्रो क्रांतिकारी (मुक्ति) आंदोलन से भी परिचित हो चुके थे। इसी आंदोलन से (जो अमरीका में 'ब्लैक पैन्थर' नाम से जाना जाता था) प्रेरित होकर दलित युवाओं ने 9 जुलाई सन् 1972 को **'दलित पैंथर'** की स्थापना की। **'दलित पैंथर'** ने दलित अत्याचारों का विरोध दर्शाने हेतु उस वर्ष स्वतंत्रता दिवस पर काले झंडे लेकर मुंबई शहर में विशाल प्रदर्शन किया था। जाने माने समाजशास्त्री प्रो. मोईन शाकीर के अनुसारः 'दलित साहित्य और दलित पैंथर आंदोलन का रिश्ता बहुत गहरा है। यह सर्वविदित तथ्य है कि राजनीतिक प्रतिरोध और चेतना के विद्रोही स्वर की अभिव्यक्ति साहित्य के माध्यम से सायासपूर्ण की गई है' मोईन शाकीर के कथनानुसार और अन्य तथ्यों को देखते हुए यह कहना तर्कसंगत होगा कि दलित साहित्य आंदोलन की प्रेरणा से ही दलित पैंथर की उत्पत्ति हुई है।

1.5 वर्ण-जाति-दास्य प्रथा के विरोध का इतिहास

चातुर्वर्ण्य और ब्राह्मणवाद के मिले-जुले प्रयास ने न केवल ब्राह्मण वर्ण की श्रेष्ठता को मान्यता दिलाई बल्कि धर्म और ईश्वर के मिथक द्वारा इसे सुरक्षित तथा अपरिवर्तनीय बनाकर रख दिया। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सत्ताकेन्द्रों पर आधिपत्य जमाने का यह सबसे आसान रास्ता था जिसका अपने स्वार्थ के लिए पूरा-पूरा उपयोग धर्म एवं राजसत्ता द्वारा किया जाता रहा। ब्राह्मणवाद ने चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की निर्मिति को ईश्वरीय बताकर वर्णश्रेष्ठता की सोपानीकृत रचना में ब्राह्मण को ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रीय को भुजा से वैश्य को जंघा से तथा शूद्र को पैरों से निर्मित बताकर एक बड़े षडयन्त्र में कामयाबी हासिल की। यह व्यवस्था मात्र सामाजिक स्तर का ही निर्धारण

नहीं करती बल्कि वर्ण की श्रेष्ठता कनिष्ठता के आधार पर उत्पादन की संपूर्ण प्रक्रिया में अधिकार को सुनिश्चित करती हैं। उत्पादन, व्यापार, वितरण और बाजार में प्रत्येक की भागीदारी को भी तय करती हैं। ब्राह्मण वर्ण की भूमिका केवल ज्ञान संपादन, दान-ग्रहण, अध्यापन व जजमानी तक सीमित थी। परजीवी के रूप में जीवनभर बिना श्रम के धन, संपत्ति, भूमि ग्रहण, सम्मान, सुख-सुविधाओं की प्राप्ति का यह जबरदस्त बंदोबस्त था। क्षत्रियों को देश की रक्षा का कार्य सौंपा गया। वैश्यों को व्यापार कृषि, पशुपालन और वितरण प्रणाली से जोड़कर धन्नासेठों की एक जमात तैयार कर दी गई। पूंजीवाद का सबसे बड़ा प्रायोजक भी यही वैश्य वर्ण था। शूद्र को तीनों वर्णों की सेवा का काम सौंप दिया गया, ज्ञान संपादन, अर्थ संपादन, उत्पादन साधनों के अधिकार से वंचित करके, दास की श्रेणी में रखा गया। दास्यत्व से मुक्ति के सारे मार्ग बंदकर दिए गये और इस वर्ण में जन्म के लिए कर्म-फल, भाग्यवाद जैसे अतार्किक एवं अवैज्ञानिक झूठ का सहारा लेकर इस स्थिति को अपरिवर्तनीय करार दिया। इस प्रकार चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को अपरिवर्तनीय बनाने में पुनर्जन्म और कर्मफल के सिद्धान्त को गढ़कर सत्ता के शीर्ष पर द्विज संस्कृति आरूढ़ हो गई। भारतीय समाज के ऐतिहासिक विकास में वर्ण-व्यवस्था को समय-समय पर प्रतिरोध की परंपरा ने विरोध किया जिससे वर्ण-जाति व्यवस्था की जकड़न कुछ समय तक ढीली पड़ी थी। ब्राह्मणवादी असमतावादी-विषमतावादी संस्कृति को ऐतिहासिक विकास में अनेक बार चुनौतियाँ दी गईं। विशेष रूप से यह विरोध श्रमण संस्कृति की ओर से ही किया गया। ब्राह्मणवादी विषमतावादी व्यवस्था के स्थान पर समता, न्याय और स्वाधीनता के मूल्यों को मानवजीवन के विकास मूल्यों के रूप में मान्यता भी मिली। इस परंपरा में विशेष रूप से भौतिकवादी, चार्वाक, लोकायत और बौद्ध चिन्तकों की महती भूमिका रही। जिसका स्वाभाविक विकास सिद्ध-नाथ और निर्गुण संत परंपरा में हमें दिखाई देता है। धार्मिक रूढ़ियों, आडंबर, पुनर्जन्म, कर्मफल और भाग्यवाद का लोकवादी लोकायतों ने प्रखर विरोध किया। ब्राह्मणवादी व्यवस्था को उत्पीड़नकारी शोषण परंपरा घोषित करते हुए बहुजन को शोषणमुक्त करने वाला भौतिकवादी विचार बुद्ध दर्शन का सबसे सशक्त परिवर्तनवादी विचार था। प्रतिरोध की चिन्तन परंपरा समता, स्वाधीनता, न्याय और करूणा के जीवनवादी मूल्यों को स्थापित करके मनुष्य को सर्वोपरी मानती हैं। बुद्ध के अनुयायी और बौद्ध दार्शनिक अश्वघोष, दिड.नाग, मिलिंद, नागार्जुन, धर्मकीर्ति आदि ने समतामूलक समाज की परिकल्पना को अपने चिन्तन के आधार पर वास्तविक धरातल पर साकार किया। बुद्ध धर्म अपने समतावादी विचार के कारण निरंतर एक हजार वर्षों तक भारत और भारत के बाहर अनेक देशों में समतावादी दर्शन के कारण जीवित रहा है। बुद्ध दर्शन के इस लोकधर्मी बहुजन हित का सामाजिक चिन्तन और तार्किक विचार सिद्ध सरहपाद, निर्गुण संत कबीर, रैदास, चोखा और नामदेव के साहित्य में विकसित रूप में मौजूद है। वर्णश्रेष्ठता को अतार्किक, अवैज्ञानिक हास्यास्पद असंगतियों को अपने तर्कशुद्ध विचारों से नकारते हुए कबीर कहते हैं -

'गर्भवास मंह कुल नहिं जाती। ब्रह्म बिन्द ते सब उत्पाती।'

बौद्ध चिंतन परंपरा के चिन्तक अश्वघोष, दिड.नाग, धर्मकीर्ति, असंग, वसुबंधु के समतावादी जनकल्याण के विचारों को हम रैदास, चोखामेळा, नामदेव, तुकाराम और जनाबाई के वर्ण-जाति विरोधी विचारों में हुबहू देखते हैं। आइए, कुछ पदों का अध्ययन करें। रैदास कहते हैं -

'रविदास ब्राह्मण मत पूजिए, जउ होवे गुनहीन।
पूजिहिं चरन चंडाल के, जउ हौवे गुन परबीन'

कर्ममेळा और चोखामेळा के पद में जन्म आधारित वर्ण वर्चस्व परंपरा को चुनौती देने वाली मनुष्य मात्र की प्रतिष्ठा को स्थापित करने की प्रतिरोधी परंपरा को देख सकते हैं -

कर्ममेळाः आमुची केली हीन जाती। तुज का न कळे श्रीपती।
जन्म गेला उल्टे खाता। लाज न ये तुझीया चित्ता।

अनुवाद :

जाति हमारी हीन बताई।
तब हे श्रीधर तुम अनजान रहे।
जूठन खाते जन्म बिताया
जरा न तुमको लज्जा आई।

चोखामेळा हीन याती माझी देवा। कैसी घडेल तुझी सेवा।

मज दूर-दूर हो म्हणती। तुज भेटु कवण्या रीति।
माइया गोविंदा गोपाळा। करूणा भाकी चोखामेळा।

अनुवाद :

मुझको रखते दूर दूर
कैसे होगा मिलना हमार।
मेरे हे गिरधर गोपाल
पुकारे तोहे चोखामेळा।

वर्णव्यवस्था के विरोध में तुकाराम ने भी मुखर होकर विरोध दर्ज किया है-

'शुद्रवंशी जन्मलो। म्हणुनी दंभे मुकलो।
घोकाया अक्षर। मज नाही अधिकार।
सर्व भावे दीन। तुका म्हणे यातिहीन।'

अनुवाद :

शुद्रवंश में जन्म से
जातिदंभ से बचा रहा।
अक्षर ज्ञान का नहीं अधिकार
दीन हीन तुका की करूण पुकार।

1.6 सामाजिक संरचना में दलित कौन

वर्णव्यवस्था के अनुसार विशिष्ट जाति में जन्म से चिन्हित किए गए समूह अस्पृश्य माने गए। धर्म की सम्मति के कारण फैले भय ने इन समूह विशेष के लिए बिना प्रश्न किए जजमानी की परंपरा के अनुसार गांव की सफाई, मरे जानवर उठाना, मृत्यु की खबर पहुँचाना, गांव की रखवाली करना दलित-पददलित जातियों के लिए अनिवार्य बना दिया गया। धर्मशास्त्रों ने जन्म से ही इन्हें अपवित्र घोषित किया गया। धर्म की आज्ञा के अनुसार दलितों के लिए निश्चित किए गये कार्य न करने पर प्राणदंड, देश निकाला, सामाजिक बहिष्कार जैसी सजाओं का प्रावधान पुराणों स्मृतियों और अन्य धर्मग्रंथों में

सुनियोजित रूप से कर रखा था। अस्पृश्यों को शिक्षा ग्रहण करना, धन संपादन, उत्पादन के किस साधन पर अधिकार से वंचित किया गया और मुख्य रूप से अस्वच्छ और घृणित माने गए कार्य करने की सख्ती उन पर की गई। इन्हें अपनी उपजीविका मात्र इन्हीं कामों के द्वारा कमाने का आदेश था। जलस्रोत, मंदिर तथा सवर्ण घरों में इनका प्रवेश निषिद्ध था, उनका स्पर्श अपवित्र माना गया इसलिए उनके साथ बैठना-उठना या छूना निषिद्ध माना गया, यहाँ तक की इनकी छाया से अन्यों के अपवित्र होने की बात धर्मशास्त्रों में शामिल की गई अतः इन्हें आदेश था कि प्रातःकाल से पूर्व ही गांव की सफाई, पशुओं के बाडों में गोबर-मूत्र की सफाई व अन्य सौंपे हुए काम किए जाये। (दलित) अछूतों को विशिष्ट प्रकार की आवाज निकालकर अपने आने की पूर्व सूचना देनी पड़ती थी। पेशवाओं ने सरकारी फरमान द्वारा अछूतों को उनकी थूक गिरकर जमीन अपवित्र न हो इसलिए थूक के लिए गले में मिट्टी की मटकी, पद चिन्ह मिटाते चलने के लिए कमर में झाड़ू और अस्पृश्य के आने की सूचना पहले ही मिल सके इस हेतु घुंगरू लगी लाठी लेकर चलने के आदेश थे। इन नियमों के पालन में कोताही होने पर प्राणदंड तक की सजा दी जाती। इस प्रकार अछूत (दलित) समाज के सबसे निम्न, अपवित्र माने गए और आर्थिक रूप से अन्य तीन वर्णों पर यह पूर्ण रूप से निर्भर वर्ण थे। वंचित, शोषित जीवनयापन करने के लिए वे मजबूर कर दिए गए। इनके रहने के स्थान या बस्ती सदा ही गांव की दक्षिण दिशा में ही थे। नदी, झरने या अन्य जल स्रोतों से पानी लेने की इनकी एक जगह निश्चित होती जो हमेशा नीचे की तरफ के बहाव के पास होती। गांव के कुओं पर, तालाब पर इनका प्रवेश वर्ज्य था, परिश्रम के काम के बदले में सालाना कुछ सेर अनाज और रात में प्रत्येक सवर्ण घर से बेगारी के काम के बदले में केवल बासी रोटी उन्हें दी जाती। आर्थिक आय के अन्य कोई साधन प्राप्त करने की धर्म द्वारा अनुमति नहीं थी। दास को किसी प्रकार का चुनाव करने की ना ही अनुमति थी और ना ही अधिकार। भूमिहीन मजदूर के रूप में खेतों में दिन रात काम करने, फसल कटाई और अनाज की सफाई के बाद अनाज की ढेरी से उन्हें दूर रहने के आदेश थे, कई जगह पर तो अनाज की ढेरी पर परछाई पड़ने से अन्न अपवित्र हो जाने का भय दिखाकर उन्हें दूर रखा जाता। केवल मिट्टी में मिला अनाज उठाने की दलितों को छूट थी। भूमि मालिक, जमींदार, महाजन, सवर्ण भूधारक दलितों को परिश्रम के बदले में नाममात्र अनाज देकर अहसान जताते कि हमारे कारण तुम लोग गुजर-बसर कर रहे हो। उनके अहसान तले दबा हुआ अछूत-दलित मजदूर इसे अपने भाग्य से जोड़कर उस अंधविश्वास में सदियों तक मूक बना अन्याय और शोषण झेलता रहा। वे उन पर अनंत उपकार करते हैं। देश के विभिन्न क्षेत्रों में सोपानीकृत व्यवस्था के बाहर का पंचम वर्ण अंत्यज, अस्पृश्य, अछूत, चांडाल, परया, चूहड़ा, चमार, महार, मातंग, धानुक, पासवान, ढेंड, वाल्मीकि, माला, मादिगा, रेल्ली, पल्लार, अरूंदतियार, हेला, लालबेगी, आदि जातिनाम से जाने जाते हैं।

1.7 सारांश

दशकों का लंबा सफर तय करके दलित साहित्य आज जिस मुकाम पर पहुंचा है, उसमें कविता की बहुत बड़ी भूमिका रही है। कविता मनु-य की सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति रही है। श्रम के साथ उसका गहरा संबंध है। मनु-य के श्रम और श्रम के साथ लय और गति का जो स्वाभाविक रिश्ता है वहीं से कविता अपनी जमीन तलाशती है और धीरे-धीरे मनु-य के जीवन का हिस्सा बनने लगती है। जिस तरह कविता मनु-य के जीवन का एक हिस्सा है, उसी तरह कविता जीवन है और जीवन कविता है। इसलिए कविता मनु-य के जीवन के समानान्तर चलती और आगे बढ़ती है।

दलित साहित्य की शुरुआत कविता से होती है और आज भी कविता उसकी प्रमुख विधा है। आज की दलित कविता अपनी परंपरा को आत्मसात करके विकसित हुई है। उसके विकास में पुरानी पीढ़ी के कवियों का बड़ा योगदान है। उन्हीं के रचनात्मक अनुभवों से प्रेरणा लेकर आज की नई पीढ़ी अपने अनुभवों को और विस्तार देते हुए, उन्हें रचनात्मक अनुभूति में बदलकर दलित कविता को परिपक्वता के मुकाम तक ले गई हैं। इनकी रचनात्मक अनुभूति अपने समय के साथ ज्यादा निकटता से जुड़ी हुई है। इसलिए सामाजिक जीवन के साथ उसका गहरा संबंध है। वास्तविकता यह है कि इन दोनों पीढ़ियों की कविताएं सामाजिक सरोकार से सीधा रिश्ता कायम करती हैं। अगर पहले की कविता कभी-कभार अत्यधिक वैचारिक आग्रह की वजह से डॉ. आंबेडकर के विचारों का सीधा-सीधा प्रचार करके अपने आपको स्तुतिगान तक सीमित करती रही है तो शायद इसकी सबसे बड़ी वजह यह रही कि वह अपने मुक्तिदाता डॉ. आंबेडकर के विचारों को जन-जन तक पहुंचाना चाहती रही ताकि दलितों के सामाजिक सांस्कृतिक आंदोलनों को एक पुख्ता आधार प्रदान किया जा सके। अपने इस महत्वपूर्ण उद्देश्य में वह सफल भी रही है। अगर साहित्य की सामाजिक सांस्कृतिक आंदोलन के विकास में कोई सार्थक भूमिका रही है तो दलित कविता की इसके विकास में सक्रिय भूमिका रही है। इससे इंकार करने का मतलब है, दलित कविता की सामाजिक सरोकार की भूमिका से इंकार करना।

दलित कविता की सामाजिक भूमिका और उसके सामाजिक सरोकार को दलित कवियों ने सर्जना का मुख्य लक्ष्य बनाया है। दलित कवि शौक से कविताएं नहीं लिखता और न ही वह जबरदस्ती कविताएं गढ़ता है बल्कि वह उसके भोगे हुए यथार्थ का अशोभनीय और अमानवीय हिस्सा है जिसकी चुभन-पीड़ा और वेदना उसके दिलोदिमाग पर अंकित हुई है। इससे उपजे शब्दों की परिणिति कविता में हुई है। दलित कवि अपनी बल्कि पूरे समाज की पीड़ा, दुःख-दर्द, वेदना और मन की छटपटाहट को कविताओं के माध्यम से काफी ईमानदारी से व्यक्त कर रहा है। दलित कविता दलितों की सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।

THE PEOPLE'S UNIVERSITY